परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू

पत्रिका की संवाद श्रृंखला की यह चौथी परिचर्चा है और विषय है– ‘परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू’। यह संवाद भोपाल, मध्यप्रदेश में आयोजित किया गया। संवाद में शासकीय उत्कृष्ट विद्यालय भोपाल के प्राचार्य सुधाकर पाराशर, राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, राज्य शिक्षा केन्द्र, भोपाल के व्याख्याता राजेन्द्र असाटी, एकलव्य फ़ाउण्डेशन की सीनियर फ़ेलो रश्मि पालीवाल, शासकीय ज्ञानोदय विद्यालय होशंगाबाद के शिक्षक मुकेश मालवीय एवं माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय भोपाल के रजिस्ट्रार दीपेन्द्र बघेल ने भागीदारी की। संवाद का संचालन रश्मि पालीवाल ने किया है। अनिल सिंह ने संवाद का समन्वय किया है।

परिचर्चा में ‘परीक्षा और शिक्षा : विषय के विविध पहलुओं पर बातचीत हुई। विषयवस्तु विस्तृत होने की वजह से इसे दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इस अंक में प्रकाशित पहले भाग में परीक्षा को लेकर प्रतिभागियों के निजी अनुभव, और समय के साथ इस पद्धति में आए बदलाव से जुड़े नज़रिए, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, सरकारी तंत्र में शिक्षकों की स्थिति व सोच और परीक्षा का स्वरूप व वैकल्पिक परिकल्पनाएँ से जुड़ी बातचीत दी जा रही है।

परिचर्चा का शेष हिस्सा अगले अंक में प्रकाशित किया जाएगा जिसमें मुख्यतः ओपन बुक परीक्षा, पास-फ़ेल की नीति और प्रयोगधर्मी स्कूलों से जुड़ी बातचीत की गई है।

रश्मि पालीवाल : दोस्तो, आज हमारी परिचर्चा का जो विषय है उसे बड़े व्यापक तौर पर रखा गया है। विषय है ‘परीक्षा और शिक्षा’। तो शुरुआत हम करेंगे अपने निजी अनुभव को याद करते हुए, उसको छूते हुए। परीक्षा तो हमने भी दी। पहले स्कूल में, फिर कॉलेज में आए तब परीक्षाएँ दीं। और आज हममें से कई शायद परीक्षाओं का संचालन भी करते हैं, प्रिंसिपल के नाते, शिक्षक के नाते या अन्य पदों के नाते। जैसे मैंने एकलव्य में यह कोशिश करके देखी है कि कैसे एक नए तरीक़े की परीक्षा प्रणाली बन सकती है।

तो पुराने ज़माने की परीक्षा प्रणाली और आज जो परीक्षाएँ चल रही हैं जिनका अनुभव हमें आज काम के जीवन में मिल रहा है, उनमें हम क्या फ़र्क़ देख रहे हैं? कोई बदलाव दिखता भी है या परीक्षा पद्धति वैसी ही है जैसी हमारे समय में हुआ करती थी?

सुधाकर पाराशर : मुझे लगता है इसमें पहले से काफ़ी बदलाव आए हैं। जैसे हमारी प्राचीन पद्धति में परीक्षा होती थी वहाँ मुख्य उद्‌देश्य दो प्रकार के थे। एक तो जो छात्रों की परीक्षा ली जाती थी वह वास्तव में छात्रों की परीक्षा न होकर शिक्षक उसे अपने फ़ीडबैक के रूप में लेता था। वह सीखता था कि मुझे कहाँ-कहाँ कठिनाई हुई समझाने में। परीक्षा एक माध्यम होता था जिसके ज़रिए शिक्षक जान पाता था कि किन पाठ्‌यक्रमों में छात्र अभी भी कमज़ोर

हैं और उन्हें कितना और पढ़ाने की ज़रूरत है। तो एक प्रकार से परीक्षा शिक्षक को मदद करती थी। दूसरा यह कि बच्चे का जो ज्ञान है उसे नापने का एक तरीक़ा होती थी परीक्षा, कि हमने बच्चे को जो पढ़ाया है बच्चा उसे कितना ग्रहण कर पाया है। लेकिन आज जो परीक्षाएँ हो रही हैं वह दो प्रकार की हो रही हैं–

- एक तो वह जिनमें क्लासरूम टीचिंग के द्वारा उसके ज्ञान की परीक्षा हो रही है।

- और दूसरा एक माहौल नया खड़ा कर दिया गया है जहाँ प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए परीक्षाएँ हो रही हैं।

इन दोनों तरह की परीक्षाओं में आपस में

"परीक्षा में बुनियादी रूप से कोई बदलाव नहीं आया है परीक्षा जिस तरह से भयकारी और आतंककारी हुआ करती थी, लगभग उसी तरह से हो रही है। और परीक्षा में एक तरह से सीखने–सिखाने की विधियों का जैसा फ़ीडबैक मिलना चाहिए वैसा किसी तरह से सम्बन्ध बनता दिख नहीं रहा है।"

कोई मेल नहीं है। एक तरफ़ जो परीक्षाएँ हो रही हैं उनमें विषयवस्तु और पाठ्यक्रम पर ज़ोर है। दूसरी तरफ़ आपकी तार्किक समझ, आपके दूसरे विषय के ज्ञान और अन्य परिस्थितियों में उसके इस्तेमाल की समझ की परीक्षाएँ हो रही हैं। जैसे– जेईई है, नीट है आदि। मेरे हिसाब से छात्र को भी बड़ा कन्फ़्यूज़न है कि इन दोनों को कैसे फ़ेस करे। यह जो बड़ा बदलाव आया है, उसके कारण शिक्षक भी अपने टूल्स का उपयोग ठीक से नहीं कर पा रहा है। दूसरी तरफ़ छात्रों पर भी अतिरिक्त बोझ है जिससे वे समझ नहीं पा रहे हैं कि हम किस तरह से तैयारी करें कि उस विषय में अच्छी तरह से पारंगत हो सकें।

मुकेश मालवीय : यदि इसे माध्यमिक शिक्षा तक ही रखें तो मेरा कहना है कि आज से 20-25 साल पहले जिस प्रक्रिया से परीक्षा हो रही थी, जिस तरह की परीक्षा हो रही थी, आज भी उसी तरह से है। बदलाव सिर्फ़ इस रूप में आया है कि पहले बच्चों और शिक्षकों की संख्या आनुपातिक रूप से होती थी, और अब चूँकि बच्चे अधिक हो गए हैं पर परीक्षा का पैटर्न वही है तो परीक्षा के साथ एक तरह का इग्नोरेंस बहुत ज़्यादा बढ़ गया है।

रश्मि पालीवाल : इग्नोरेंस को थोड़ा विस्तार से समझाइए, मैं समझ नहीं पाई।

मुकेश मालवीय : पहले होता था कि परीक्षा के ज़रिए बच्चे को जानने की थोड़ी-बहुत कोशिश की जा सकती थी लेकिन जब यहाँ बच्चे इतनी बड़ी संख्या में हैं, तो बच्चों से जुड़ाव प्रश्नपत्र के ज़रिए या बच्चों के जवाब के ज़रिए ही हो पा रहा है, तो यह एक तरह से परीक्षा की परम्परा का सिर्फ़ निर्वहन हो रहा है।

दीपेन्द्र बघेल : मुझे भी कमोबेश यही लगता है कि बुनियादी रूप से कोई बदलाव आया नहीं है। बदलाव आया है पदों में। कई नए पद आ गए हैं जैसे– सतत और व्यापक मूल्यांकन, चाइल्ड सेंट्रिक पेडागॉज़ी आदि। बाल-केन्द्रित अध्ययन-अध्यापन की विधियाँ आ गई हैं, लेकिन इतने सारे पदों के प्रचलन के बावजूद परीक्षा जिस तरह से भयकारी और आतंककारी हुआ करती थी, लगभग उसी तरह से हो रही है। और परीक्षा में एक तरह से सीखने-सिखाने की विधियों का जैसा फ़ीडबैक मिलना चाहिए वैसा किसी तरह से सम्बन्ध बनता दिख नहीं रहा है। पर परीक्षा को लेकर एक अलग सवाल मेरे दिमाग़ में है। हमारा जो समाज है वह एक तरह से समुदाय-आधारित समाज है। इसमें समुदाय का वर्चस्व बहुत ज़्यादा है और इसमें व्यक्ति की स्वतंत्र रूप से पहचान उतनी विकसित नहीं है। बच्चा जब परीक्षा दे रहा है तब वह अपने समाज से, अपने समुदाय से कुछ मान्यताओं को लेकर



फोटो : साइंसः ए वे ऑफ़ लाईफ़ (एकलव्य फ़ाउण्डेशन)

आया है, वह मान्यताएँ उसको दबाती रहती हैं और दूसरी तरफ़ बच्चे को अलग से शिक्षा दी जाती है। तो होता यह है कि बच्चे की पढ़ने की जो क्षमता है, सोचने-समझने की जो क्षमता है वह हमारी स्कूली शिक्षा पद्धति में कहीं जगह नहीं पाती। हमारी शिक्षा संसाधनविहीन है। मानव संसाधन की बात करें तो अध्यापक का जितना समय बच्चों को मिलना चाहिए, अध्यापक के पास उतना समय नहीं है। पाठ्यपुस्तकें जितनी गुणवत्ता की होनी चाहिए उतनी गुणवत्ता की नहीं हैं। मेरा तो यह सवाल है कि ऐसी संसाधनविहीन शिक्षा प्रणाली में क्या परीक्षा लेने का नैतिक हक़ भी शिक्षा व्यवस्था को है? मुझे इसमें सन्देह है। जब आप संसाधन ही नहीं दे पा रहे हैं तो परीक्षा कैसे ले सकते हैं!

रश्मि : बहुत इंट्रेस्टिंग बात कही आपने कि व्यवस्था को परीक्षा लेने का नैतिक हक़ है कि नहीं। स्कूल प्रशासन में कहीं चर्चा हो रही थी कि किसी रिसोर्स संस्था से रीज़निंग स्किल्स की ट्रेनिंग के लिए कोई आए यह सिखाने के लिए कि टीचर रीज़निंग स्किल्स के प्रश्न कैसे बनाएँ। टीचर को बता दो, सिखा दो ताकि अच्छे प्रश्नपत्र बन पाएँ। तब भी मैं यही सोच रही थी कि क्या प्रश्न बनाना सिखाने से सचमुच वैसे प्रश्न क्लासरूम में किए जाएँगे? क्या बच्चों को सोचने की क्षमता सामने लाने का मौक़ा मिलेगा? यह सब चीज़ें तो सुनिश्चित होंगी नहीं, तो संसाधनविहीनता तो है ही। ऐसे में रीज़निंग स्किल्स के प्रश्न बनाकर प्रचारित करने का नैतिक औचित्य क्या बनता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

पर अभी की चर्चा में एक बहुत ही रोचक विषय यह उठा कि पहले के ज़माने में बच्चे के बारे में फ़ीडबैक लेना सम्भव हुआ करता था जो अब नहीं हो रहा है, वह चाहे बच्चों की संख्या बढ़ने के कारण हो या कर्मकाण्डीयता ज़्यादा हो गई है इसलिए हो। मुझे यह रोचक लगा कि क्या ऐसा होता था, तो मैं चाहूँगी कि इस विषय पर और ज़्यादा बात हो, इसे थोड़ा और खोला जाए क्योंकि वह एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है परीक्षा का।

राजेन्द्र असाटी : जहाँ तक बदलाव की बात है तो मैं बदलाव महसूस करता हूँ। हमारे सोचने के तरीक़े में अन्तर आया है। पहले बच्चे पढ़ते थे तो हम सिर्फ़ यह बोलते थे कि पहली पास

हो जाओ, दूसरी पास हो जाओ। कैरियर की बात कहीं 12वीं में जाकर होती थी। और अब बच्चा जब एडमिशन लेता है तभी से हम उसके कैरियर के बारे में सोचना शुरू कर देते हैं। पेरेंट्स का माइंडसेट भी बहुत ज़्यादा बदला है। उनकी एक्सपेक्टेशन बिल्कुल बदल गई हैं। पहले यदि बच्चा नहीं आता था तो टीचर जाकर बच्चे का फ़ीडबैक देता था। अब पेरेंट्स आते हैं पूछने। तो थोड़ा यह चेंज आया है। प्रायवेट स्कूल और गवर्नमेंट स्कूल को देखें तो गवर्नमेंट स्कूल में हम पाते हैं कि पेरेंट्स-टीचर मीटिंग में बच्चों की बात करने, उनकी कॉपियाँ देखने पेरेंट्स नहीं आ रहे हैं। वहीं प्रायवेट स्कूल में पेरेंट्स आ रहे हैं। देखिए, हमारा जो टीचर है

"मेरा तो यह सवाल है कि ऐसी संसाधनविहीन शिक्षा प्रणाली में क्या परीक्षा लेने का नैतिक हक़ भी शिक्षा व्यवस्था को है? मुझे इसमें सन्देह है। जब आप संसाधन ही नहीं दे पा रहे हैं तो परीक्षा कैसे ले सकते हैं!"

सबसे पहले उसके माइंडसेट के चेंज की बात करते हैं। पहले एक ऐसा टीचर था जो वैल्यूज़ का सख़्ती से पालन करता था लेकिन अब यहाँ पर ज़्यादातर हमको अपने अनुभव अच्छे नहीं मिले। कारण जो भी हो।

रश्मि : एक तरह से आप कह रहे हैं कि टीचर बच्चों के लिए फ़ीडबैक ले ही नहीं रहा।

राजेन्द्र : बिल्कुल। दूसरा, परीक्षाओं के पैटर्न में भी चेंज हुआ है। जैसा कि हमको याद है हम पहले सिर्फ़ वार्षिक परीक्षा देते थे फिर यह हुआ कि सिर्फ़ वार्षिक परीक्षा से बच्चा इतना याद कैसे रखेगा। फिर मंथली टेस्ट होने लगे। मंथली टेस्ट के बाद यह बात की जा रही है कि हर दिन असेसमेंट हो। मतलब अब यह कहा जाता है कि असेसमेंट इज़ द पार्ट ऑफ़ लर्निंग। यानी बच्चे का गैप उसी दिन फ़ुलफ़िल हो जाए। बच्चा आगे बढ़े तो परीक्षा सिर्फ़ नाम के लिए परीक्षा होती है, मूल्यांकन और आकलन उसके साथ चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं जो हम करने की बात कर रहे हैं। तो यह चेंज भी हुआ है जिसकी हम लगातार बात कर रहे हैं।

रश्मि : यह तो बड़ा महत्त्वपूर्ण बदलाव है। पाराशरजी, फ़ीडबैक वाली बात जो आप कहना चाह रहे थे तो हो सकता है उसमें हमें कोई झलक दिखे कि पहले किसी और तरीक़े से टीचर फ़ीडबैक लेते थे। आप उस वक़्त क्या कहना चाह रहे थे?

सुधाकर पाराशर : मैं सिर्फ़ यह कहना चाह रहा था कि जो परीक्षा है उसका जो अर्थ निकाला जाता है, मोटेतौर पर चाहे वह बच्चों के अभिभावक हों, या समाज हो या शिक्षा अधिकारी हों वह सिर्फ़ यह मानकर चलते हैं कि परीक्षा सिर्फ़ इसके लिए है कि विद्यार्थी ने कितना पढ़ा और कितना सीखा। मैं इसका दूसरा पक्ष रख रहा था। हम बच्चों की जो परीक्षा लेते हैं वह परीक्षा वास्तव में शिक्षकों की परीक्षा होती है। इससे रिफ़्लैक्ट होता है, पता चलता है कि हम जो सिखाना चाह रहे थे वह ठीक से सिखा पाए या नहीं। जो अंक हैं उसका विश्लेषण शिक्षक इस प्रकार करे कि 40 बच्चों की कक्षा में से 10 से अधिक बच्चों ने किसी टॉपिक में सारे प्रश्न ग़लत किए हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चे कमज़ोर हैं, बल्कि इसका अर्थ यह है कि शिक्षक को उस टॉपिक को पढ़ाने की अपनी विधि पर फिर से विचार करना होगा। शिक्षकों को यह सोचना होगा कि हो सकता है मैंने पढ़ा तो दिया पर उसमें कुछ और ऐड करना था तो सारे बच्चों को जो सिखाना चाहता था, सिखा पाता। दूसरी बात यह कि इस परीक्षा के माध्यम से यह पहचान करनी होगी कि कौन-से हमारे ऐसे बच्चे हैं कि जिनपर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। ऐसा हमारे घरों में भी होता है कि



समानता का व्यवहार कई बार उचित नहीं होता। कोई रोगी है, कोई वृद्ध है, कोई बालक है तो उसका विशेष ध्यान रखा जाता है। मेरे हिसाब से शिक्षकों को यह ध्यान रखना होगा कि बच्चे की सीखने की कैपेसिटी कितनी है। यदि वह थोड़ी कमज़ोर है तो हम उसके स्तर तक नीचे जाकर उनको हाथ लगाएँ और उन्हें समझाने का प्रयास करें। मैं इस दृष्टि से देखता हूँ कि परीक्षा हो रही है, बच्चे परीक्षा में सम्मिलित हो रहे हैं, लेकिन उनके जो अंक आ रहे हैं वह बहुत बड़ा होमवर्क़ हैं शिक्षक का।

रश्मि : बिल्कुल। तो आप कह रहे हैं कि आपके ज़माने में इस तरह से परीक्षा को लिया जाता था। क्योंकि आप लगातार फ़ीडबैक लेने और रिफ़्लैक्ट करने की बात कह रहे हैं, क्या आप उसके कुछ उदाहरण देकर बता सकते हैं?

सुधाकर पाराशर : मैं यह बार-बार इसलिए कह रहा हूँ कि जब एडीआईएस आते थे, शिक्षा अधिकारी आते थे तो बच्चों से बार-बार प्रश्न करते थे। जब मैं 6-7वीं में पढ़ता था तब यह अधिकारी बच्चों पर नाराज़गी करके नहीं जाते थे। बाद में अलग से बैठकर शिक्षक से बात करते थे कि इस पाठ को इस तरह से फिर से पढ़ाने की ज़रूरत है। इसको ठीक से नहीं पढ़ाया गया। वह बताते थे कि इसको ऐसे पढ़ाओगे तो ज़्यादा बच्चे समझ पाएँगे।

यदि गणित में हमें लगता है कि हमारी कक्षा के सारे बच्चों को समझने में दिक़्क़त हो रही है तो मेरा मानना है कि छात्र कमज़ोर नहीं है। वह हमारे लिए एक विषय है कि हम उसको कैसे ठीक से करें। अपने दूसरे साथियों से बात करके, अन्य जगह से जानकारी ले करके अपनी समझ बनाएँ। अब तो बहुत सारी जगह जानकारी उपलब्ध है। पर ऐसा हो नहीं रहा है। अव्वल तो शिक्षक अपने विषय से ही कटा है, साथ ही वह अन्य विषयों से भी कटा है। वह

कक्षा में ऐसे जा रहा है कि सिर्फ़ गणित पढ़ाना मेरा काम है। बाक़ी के विषय में क्या हो रहा है उसे कुछ लेना-देना नहीं है। हिन्दी का टीचर जा रहा है तो वह अपना एक पाठ पढ़ाकर बाहर आ रहा है। मुझे लगता है कि छात्र के साथ यह बहुत बड़ा अन्याय है। उसके दिमाग़ में ऐसा नहीं है कि हिन्दी का एक कम्पार्टमेंट, इतिहास का एक और गणित का एक कम्पार्टमेंट है। वह तो सभी विषयों को 'एज़ ए होल' सीख रहा है। उसे तो इंटीग्रेशन की बहुत आवश्यकता है। उसके

"जैसे हम सोचते हैं बच्चे का विकास होना है तो टीचर का भी तो विकास होना है, वह भी एक व्यक्ति है। इस तरह से सोचा जाना चाहिए। एक सोचने–समझने वाले व्यक्ति के रूप में शिक्षक का विकास भी हमारा ध्येय होना चाहिए।"

लिए तो बहुत ज़रूरी है कि शिक्षक आपस में बैठकर चर्चा करें। विषयों के आपसी जुड़ाव पर व्यावहारिक बात करें। बल्कि मुझे तो लगता है कि प्रश्नपत्र तैयार करते समय भी कार्यशाला होनी चाहिए। जहाँ एक विषय का दूसरे विषयों से क्या रिलेशन है यह समझ सकें।

रश्मि : हाँ, बिल्कुल। विशेषज्ञों के लिए भले ही वह विषय अलग-अलग हों, पर बच्चे के लिए तो वह उस कक्षा का एक पूरा पाठ्यक्रम है।

सुभाष पाराशर : बिल्कुल, सारे विषय आपस में गुँथे, बुने हैं। हम चाहे किसी भी कक्षा का पाठ्यक्रम देख लें वह एक-दूसरे से गुँथे हैं। गणित में भौतिकशास्त्र आ रहा है, भौतिक में रसायन आ रहा है, और लैंग्वेज में विज्ञान प्रवेश कर रहा है आज के ज़माने में।

रश्मि : आपने बहुत महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान दिलाया है कि पहले जो टीचर सपोर्ट सिस्टम था, मॉनीटरिंग सिस्टम था, वह वाक़ई में बदला है। टीचर की समझ तभी बनेगी जब इस तरह का जवाबदेह सिस्टम बनाया जाए कि बच्चे को अगर समझ नहीं आ रहा है तो उसका अंजाम, टीचर ने क्या किया, इसपर निकले; और वह भी एक डाँट-डपट या इंक्रीमेंट रोक दूँगा, निपटा दूँगा और सस्पैंड कर दूँगा के रूप में नहीं, बल्कि इसे प्रोफ़ेशनल तरीक़े से देखने की ज़रूरत है। जैसे हम सोचते हैं बच्चे का विकास होना है तो टीचर का भी तो विकास होना है, वह भी एक व्यक्ति है। इस तरह से सोचा जाना चाहिए। एक सोचने-समझने वाले व्यक्ति के रूप में शिक्षक का विकास भी हमारा ध्येय होना चाहिए। जैसे डाँट-डपट करके बच्चे को सिखाया नहीं जा सकता, वैसे टीचर को भी डर और धमकी के तमाचे लगा-लगा कर सिखाया नहीं जा सकता। पर यह नज़रिया नहीं बन पा रहा है, पहले शायद कुछ हद तक रहा करता था।

सुधाकर पाराशर : इस बात में केवल एक चीज़ जोड़ना चाहूँगा कि सर्वशिक्षा अभियान के तहत यह प्रयास हुआ और शुरू में यह धारणा बनी थी कि उसके चलते ही ऐसे पदनाम बनाए गए थे- बीएसी सीएसी, सीआरसी, बीआरसी, डीपीसी, सभी के आख़िर में 'सी' लगा था। समन्वयक था वह। विषयवार समन्वयक था, संकुल का समन्वयक था, अकादमिक समन्वयक था, स्रोत समन्वयक था, जिले का समन्वयक था। मतलब मंशा यही थी शासन की। वह यही चाहता था कि शिक्षक के साथ समन्वय बनाकर स्कूली सिस्टम में आ रही कठिनाइयों को दूर किया जाए। यह प्रश्न अलग है कि उसका क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो सका और उससे जो मंशा थी, वह अकादमिक सपोर्ट शिक्षक तक नहीं पहुँच पाया। यह मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन यह एक अच्छा प्रयास था। आवश्यकता अभी भी उसी बात की है कि न केवल पदनाम में वे शब्द जोड़े जाएँ, बल्कि जो शिक्षा अधिकारी उस लेवल पर काम कर रहे हैं, जो कार्यकर्ता और मैंटर काम कर रहे हैं, वह

यह सोचकर चलें कि हमारा शिक्षक जो है वह हॉट सीट पर बैठकर प्लेन को उड़ा रहा है, हम सब उसे सपोर्ट करें। पर उल्टा हो रहा है। हम सब उसका विरोध करने को तैयार खड़े हैं कि शिक्षक काम नहीं कर रहा, वह काम नहीं कर रहा। ज़रूरत यह है कि यदि मैं जिला शिक्षा अधिकारी हूँ तो मैं समझूँ कि शिक्षक की शिक्षण सम्बन्धी क्या कठिनाइयाँ हैं।

रश्मि : हम यह सुझाव दे सकते हैं पाराशरजी कि पाठशाला के लिए अगला संवाद कभी मॉनिटरिंग मैकेनिज़्म पर रखें। इतनी सारी बातें हैं कि एक-एक को खोलने की ज़रूरत है।

सुधाकर पाराशर : मुझे प्राचार्य होने के नाते यह पीड़ा हमेशा रहती है। मेरे पास अधिकारीगण और शिक्षक आते रहते हैं और मैं सोचता हूँ इनमें से कितने लोगों ने मुझसे शिक्षा पर बात की, पढ़ाई पर या बच्चों की कठिनाइयों पर बात की। मुझे बहुत निराशा होती है।

परीक्षा का स्वरूप और वैकल्पिक परिकल्पनाएँ

मुकेश : इस प्रश्न को छोड़ने से पहले मैं चाहता हूँ कि परीक्षा के स्वरूप पर थोड़ी समालोचनात्मक नज़र डाल लेनी चाहिए। एक तो यह परीक्षा जो है वह लिखित रूप में पूछा जाने वाला सवाल है। परीक्षा की जो पूरी इमेज है स्कूल में, वह लिखित से बाहर है ही नहीं।

रश्मि : प्रायोगिक भी होती है। मौखिक भी होती थी पहले, अभी भी होती है।

मुकेश : पर उसको छोड़ भी दें तो मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि लिखित रूप



में पूछा जाने वाला सवाल कभी भी बच्चों के मन में शुरुआती स्तर पर कोई अर्थ नहीं बनाता। स्कूली स्तर पर, और यहाँ तक कि आठवीं के स्तर तक भी लिखित सवाल इसकी समझ पैदा नहीं करता कि क्या पूछा जा रहा है। उस समय तक का ज़्यादातर जीवन जो है वह मौखिक वार्तालाप से दुनिया को समझने का है। यह पूरी-की-पूरी स्कूली संस्कृति जिसमें लिखित भाषा आ गई है उसका तौर-तरीक़ा बिल्कुल अलग है। बच्चों को भाषा लिखने का तरीक़ा नहीं पता, तो यह जानते हुए भी कि सवाल का अभिप्राय क्या है, बच्चे जवाब नहीं लिख पाते। ऐसे में यह कहना कि किसी सवाल का जवाब बच्चे ने नहीं दिया, इसका यह मतलब नहीं

"शुरुआती कुछ साल जो हैं उसमें परीक्षा का प्रश्नपत्र बच्चे को सिर्फ़ यह बताने के लिए होना चाहिए कि परीक्षा के सवाल ऐसे होते हैं, जवाब देने आएँ चाहे नहीं आएँ। एक समय के बाद वह समझने लगता है कि ऐसे सवाल पूछे जाते हैं और फिर एक स्तर आता है जब वह अपनी तरह से जवाब देने लगता है।"

कि उसका जवाब बच्चे को नहीं आता। दूसरी बात, बच्चे जिस लिखित भाषा से परिचित होते हैं, तो वह भले ही प्रश्न को समझ लें, वह यह जानते हैं कि मुझे जो कुछ लिखना है वह कुछ अटपटा-सा ही है, वह किताबी है, वह मेरे दिमाग़ का नहीं है, मेरी समझ का नहीं है। तो चूँकि पहले तो उसे प्रश्न को ही समझने की ज़रूरत है, और फिर जवाब देने के लिए जो ट्रेनिंग उसे मिली है उसमें यह कहा गया है कि जवाब अपनी मौलिक भाषा में नहीं देना है। बल्कि ऐसी भाषा में, और ऐसे शब्दों में देना है जो भले तुम्हें अटपटी लगती हो, वह किताब से मैच करती हो और वही शिक्षक को समझ में आएगी। इन दो चीज़ों को जब तक परीक्षा के नज़रिए से नहीं देखते, तब तक हम ठीक ढंग से नहीं समझ पाएँगे। बच्चे का आकलन करने के लिए परीक्षा तो है पर बच्चे के पास इससे निपटने का, इस तरह का कोई एक्सपोज़र नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं परीक्षा को इस रूप में देखता हूँ कि शुरुआती कुछ साल जो हैं उसमें परीक्षा का प्रश्नपत्र बच्चे को सिर्फ़ यह बताने के लिए होना चाहिए कि परीक्षा के सवाल ऐसे होते हैं, जवाब देने आएँ चाहे नहीं आएँ। एक समय के बाद वह समझने लगता है कि ऐसे सवाल पूछे जाते हैं और फिर एक स्तर आता है जब वह अपनी तरह से जवाब देने लगता है। वह सीख लेता है। तो यह एक पूरा दौर है। अगर आप माध्यमिक स्तर तक यह आकलन करेंगे कि प्रश्न क्या पूछा गया वैसा ही जवाब मिल रहा है कि नहीं तो हम थोड़े भ्रम मे होंगे। और दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बच्चे को आता है या नहीं आता, यह बच्चे के जवाब से बिल्कुल भी पता नहीं चलता।

गुरबचन : जवाब दो तरह के होते हैं बच्चे की दृष्टि में। एक तो अपेक्षित जवाब जो स्कूल चाहता है, जो टीचर चाहता है और एक जवाब जो बच्चे का ख़ुद का होता है। वह सोचता है कि इनको कौन-सा जवाब चाहिए। क्या जवाब लिखूँ जो स्वीकार किया जाएगा, पसन्द किया जाएगा।

मुकेश : बिल्कुल सही कह रहे हैं। इसका एक ताज़ा उदाहरण है। एक सवाल विज्ञान में पूछा गया कि विद्युत से चलने वाले पाँच उपकरणों के नाम बताओ। अब हर बच्चा जानता है कि बिजली से क्या-क्या सामान चलते हैं। लेकिन अब यह जो विद्युत और उपकरण हैं, यह अधिकतर बच्चों को नहीं पता कि यह क्या हैं। अब इनका क्या जवाब देना है, उसे समझ ही नहीं आता। तो हम क्या निष्कर्ष निकालेंगे कि बच्चा यह भी नहीं जानता कि बिजली से चलने वाले उपकरण कौन-से हैं?

एक तो यह बात है। दूसरा, एक पूरी कहानी है जिसमें एक कंजूस पात्र है। और पाठ अभ्यास में एक सवाल है कि कंजूस कौन है? या कंजूस

कौन था? इस सन्दर्भ में बच्चे अपने गाँव के परिवेश में जिस किसी व्यक्ति को कंजूस मानते हैं, उसका नाम लिख दें। क्योंकि उनके दिमाग़ में तो जो कंजूस है वह तो वही था। तो अब सवाल यह आता है कि वे किस सन्दर्भ में जवाब दें। सवाल किस सन्दर्भ में पूछा गया है यह समझने में भी वक़्त लगता है।

चूँकि सवाल तो दो लाइन का है लेकिन उसका सन्दर्भ कहाँ जोड़कर पूछा गया है, इसका ख़ुलासा नहीं होता है। यह परीक्षा का जो नज़रिया है यह पूरी तरह से एडल्ट को ध्यान में रखकर ही बनाया गया है, बच्चों के बारे में इसमें बहुत कम सोचा गया है।

रश्मि : तो क्या हम इस मुद्दे को लेकर ही बात करें कि हम क्या सुधार विजुअलाइज़ करते हैं, अपेक्षा करते हैं? उनके बारे में थोड़े अपने सुझाव सामने रखें। बच्चे के नज़रिए को कैसे हम मूल्यांकन में शामिल कर सकते हैं? उसकी प्रक्रियाएँ क्या होंगी?

सुधाकर पाराशर : मुझे याद आ गया अपना बचपन। यह आपकी बात बिल्कुल सही है। प्रारम्भिक परीक्षा से कम-से-कम आठवीं तक तो लिखित परीक्षा को जितना कम कर सकते हैं कम कर दें। मुझे याद आ रहा है कि मैं कक्षा 7वीं में था और हमें विज्ञान विषय जोशी सर पढ़ाते थे। मैं पढ़ने में बहुत अच्छा भी था। परीक्षा में एक प्रश्न आया कि पेरिस्कोप के चार अनुप्रयोग लिखो।

रश्मि : आपने लिख दिए?

सुधाकर पाराशर : नहीं। मुझे पेरिस्कोप के 6



प्रयोग याद थे। मुझे लगा कि प्रयोग का उल्टा अनुप्रयोग होता है। यानी प्रश्न ही नहीं समझ पाया। मुझे लगा कि 'अन' लगा है यानी उल्टा अर्थ होगा। क्योंकि अधिकतर शब्दों में अन लगने से उल्टा होता है। यानी भाषा हिन्दी ही थी लेकिन प्रश्न में एक ऐसे शब्द के इस्तेमाल से मैं पूरी बात को ही नहीं समझ पाया। नहीं जान पाया कि सही जवाब क्या है। मैं उसका जवाब उल्टा देकर आया जबकि किताब वाला सही जवाब मुझे याद था।

बाहर जब गया तो दोस्तों से चर्चा हुई। वे पूछने लगे कैसा हुआ पेपर? हमने कहा हमारा तो ख़ूब अच्छा हुआ। उन्होंने पूछा, "पेरिस्कोप के उपयोग लिख आए।" हमने कहा, "उपयोग कहाँ, अनुप्रयोग पूछे हैं।" बाद में टीचर ने मुझे बहुत डाँटा कि तुम ऐसा कैसे कर आए। मैंने कहा, "वहाँ अनुप्रयोग पूछे थे उपयोग थोड़े ही पूछे थे।" सच में वह बात आज इस चर्चा में याद आ गई। अब समस्या कहाँ थी? समस्या यह थी कि मुझे हिन्दी नहीं आती थी या अनुप्रयोग शब्द का अर्थ नहीं आता था। जबकि परीक्षा से निष्कर्ष यह निकला कि मुझे पेरिस्कोप का विज्ञान नहीं आता।

" इस शब्द को लज्जा से भी नहीं बोला जाता है कि बच्चे कमज़ोर हैं। यह बोलने में संकोच भी महसूस नहीं होता। मतलब यह स्वीकारपूर्ण शब्द हो चुका है कि बच्चे कमज़ोर होते हैं। बच्चे कमज़ोर होते हैं या सीखना–सिखाना कमज़ोर होता है? इसपर बहुत गहराई से सोचने–समझने की ज़रूरत है।"

रश्मि : यह समस्या पाठ्यपुस्तक से भी जुड़ी है। पाठ्यपुस्तक में भाषा बहुत ही उच्च कोटि की इस्तेमाल की जाती है। तकनीकी और पारिभाषिक शब्दावली को ही मान्यता है और इसको शिक्षा के मानक के रूप में लिया जाता है। वहीं से सारी बात जुड़ी हुई है। हमने थोड़ी हल्की या बोलचाल की भाषा का इस्तेमाल किया तो कहा जाता है कि आप शिक्षा का स्तर गिरा रहे हो।

दीपेन्द्र बघेल : बातचीत के आगे बढ़ने के क्रम में एक शब्द आया था 'कमज़ोर बच्चे'। 'अलग से ध्यान दिया जाना'। मुझे ऐसा लग रहा है कि कमज़ोर शब्द पर अलग से बातचीत की जाए। क्योंकि सरकारी बातचीत या कर्मकाण्ड में यह शब्द बार-बार दोहराने में आता है। जब से असर की रिपोर्ट आई है तो यह शब्द बार-बार चर्चा में आ रहा है, कमज़ोर बच्चे, कमज़ोर बच्चे। मुझे लगता है कि यह जो भी परीक्षा पद्धति है या जो भी आकलन के तरीक़े हैं, वे एक तरीक़े से बच्चों के तिरस्कार के, अवमानना के तरीक़े हैं। मतलब उन्हें रोज़ यह फ़ील कराया जाता है कि आप सीख नहीं सकते, आप बुनियादी रूप से कमज़ोर हैं। अब यह शिक्षाशास्त्र में सामान्य बोलचाल का एक तरीक़ा हो चुका है और इस शब्द को लज्जा से भी नहीं बोला जाता है कि बच्चे कमज़ोर हैं। यह बोलने में संकोच भी महसूस नहीं होता। मतलब यह स्वीकारपूर्ण शब्द हो चुका है कि बच्चे कमज़ोर होते हैं। बच्चे कमज़ोर होते हैं या सीखना-सिखाना कमज़ोर होता है? इसपर बहुत गहराई से सोचने-समझने की ज़रूरत है। हमारे पास कोई ऐसा तरीक़ा नहीं है जिससे हम यह जान सकें कि बच्चे वाक़ई में कमज़ोर होते हैं क्या!

मुझे यह हमेशा लगता है कि सीखने-सिखाने की जो विधियाँ हैं उनकी कमज़ोरियों पर हमें हमेशा सोचना पड़ेगा। शिक्षक अपनी कमज़ोरियों को क़बूल कर सके उस दिशा में हमें सोचना पड़ेगा। शिक्षा व्यवस्था अपनी कमज़ोरियाँ क़बूल कर सके। कमज़ोरी का जो विमर्श है उसे तोड़ना पड़ेगा। मुझे यह लगता है कि कमज़ोरी शब्द अब विमर्श में आ गया है और परीक्षा उसका मापदण्ड बन चुकी है। यानी परीक्षा यह कह रही है कि यह बच्चे कमज़ोर

हैं। मुझे हमेशा से यह लगता है कि ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से भी यह हिंसक बात है। तो क्या हम इस हिंसक बात का समर्थन करते हैं? इसपर सवाल उठाए जाने चाहिए। शायद परीक्षा के विमर्श के बीच ऐसे सवाल उठ सकते हैं, क्योंकि मैंने अनेक संस्थाओं के प्रयोग में देखा है कि कई बच्चों को शिक्षकों ने अस्वीकृत कर दिया था कि ये गणित नहीं सीख सकते, संस्कृत नहीं सीख सकते। उन बच्चों के साथ संस्थाओं ने अपनी तरह से शिक्षण के प्रयोग किए, शिक्षकों के साथ भी काम किया और बच्चों ने बहुत अच्छा किया। तो मुझे ऐसा लगता है कि बच्चे के नज़रिए से सोचना इसलिए ज़रूरी है कि बच्चे की आत्मछवि उसकी तथाकथित उपलब्धि से जुड़ी है। एक बार उसने यह मान लिया कि वह कमज़ोर है तो उसकी अपने-आप को कमज़ोर मानने की ग्रन्थि जीवन भर उसके साथ चलने वाली है। तो परीक्षा इस ग्रन्थि का विकास न करे बल्कि इस ग्रन्थि को तोड़े। जबकि अभी की स्थिति में तो परीक्षा इस ग्रन्थि का विकास ही करती दिखाई देती है। असर की रिपोर्ट ने तो इसे स्टैंडर्डाइज़ कर दिया है। मैंने बहुत बार सुना है शिक्षक कहते हैं कि बच्चे 8वीं क्लास में आ गए हैं जबकि उनकी तीसरी कक्षा की भी योग्यता नहीं है। वे कमज़ोर वर्ग के हैं। हम उनको पढ़ा ही नहीं सकते।

मुझे लगता है कि कमज़ोरी का जो विमर्श है, वह स्थापित-सा हो गया है। बच्चों के कमज़ोर होने की इस बात को आसानी से बोला जाने लगा है। इसे तोड़ा कैसे जाए, मुझे तो इस व्यवस्था में इसका कोई तरीक़ा समझ नहीं आ रहा फिलहाल।

रश्मि : हमने एकलव्य के कार्यक्रम में यह प्रयोग किया था कि बच्चे के नज़रिए को शामिल करते हुए परीक्षा या आकलन के जो भी परिणाम आ रहे हैं उसको हम आत्मचिन्तन के लिए उपयोग करें। इस मक़सद से कि हमें शिक्षकों के पढ़ाने के तरीक़े में, पाठ्यपुस्तकों के लेखन में कहाँ-कहाँ और कितने प्रयास करने हैं। इसके अलावा हम और भी प्रयास करते थे। प्रश्नपत्र हम सब शिक्षक मिलकर बनाते थे, और जब परीक्षा हो जाती थी, उत्तरपुस्तिका आती थी तो हम रेंडम सैंपल निकाल लेते थे। उनका अध्ययन करके सबसे पहले प्रश्नपत्र की समीक्षा की जाती थी, बच्चे की नहीं। प्रश्नपत्र की समीक्षा करते थे कि क्या हमने अच्छा प्रश्नपत्र बनाया था। प्रश्नपत्र का मूल्यांकन किया जाता था। उसमें बच्चों के रिस्पोंसेस को टेबुलेट करते थे, बिना नाम देखे, रोल नम्बर से देखकर। और देखते थे कि कौन-से प्रश्नों में बच्चों ने कहाँ और कब अच्छा किया। फिर समालोचना होती थी कि क्या यह प्रश्न सही थे। फिर देखते थे कि इनमें हमने कितने-कितने अंक निर्धारित किए। फिर यदि

''एकलव्य के कार्यक्रम में यह प्रयोग किया था कि बच्चे के नज़रिए को शामिल करते हुए परीक्षा या आकलन के जो भी परिणाम आ रहे हैं उसको हम आत्मचिन्तन के लिए उपयोग करें। इस मक़सद से कि हमें शिक्षकों के पढ़ाने के तरीक़े में, पाठ्यपुस्तकों के लेखन में कहाँ-कहाँ और कितने प्रयास करने हैं।''

ऐसे प्रश्न निकलते थे जिनमें बच्चों ने बहुत ही कम जवाब दिया है तो हम चर्चा करते थे कि इसका क्या मतलब है। क्या प्रश्न सही है या प्रश्न ही भ्रामक था। जैसा उदाहरण पाराशरजी ने बताया कि एक शब्द अनुप्रयोग ने कैसे उन्हें भ्रम में डाल दिया था।

प्रश्न से कैसे भ्रान्ति आ रही है वह इस विश्लेषण से पकड़ में आ जाती है। बच्चे कैसे देख रहे हैं उस प्रश्न को, इससे उनका नज़रिया सामने आ जाता। हमारे पढ़ाने में क्या दिक़्क़त रही, क्यों इस प्रकार की चीज़ बच्चे कर नहीं पाए जबकि हमने अपेक्षा की थी। तो फिर टीचर के साथ समीक्षा की जाती थी कि क्या हमने बच्चे को ऐसे पढ़ाया था। कितना टाइम दिया

था? यह सारी समीक्षा करने के बाद हम अंकों का पुनर्निर्धारण करते थे। इसको बहुत लोग ग़लत मानते थे कि यह आप कैसे कर सकते हैं, इस प्रश्न के इतने अंक थे अब आप अंक बदल कैसे सकते हो। लेकिन समीक्षा के आधार पर हम अंक बदल देते थे। बच्चों के फ़ीडबैक से पता चल रहा है कि यह प्रश्न अन्यायपूर्ण है। उनका सही मूल्यांकन नहीं कर पा रहे। देखिए, मूल्यांकन उसका होना होता है जो हम कर पाएँ। जो कर ही नहीं पाएँ उसका क्या मूल्यांकन। मूल्यांकन तो मेरे आगे बढ़ने और मेरी उपलब्धि बताने के लिए होना चाहिए ना। जो मुझे नहीं आता वह तो टीचर के झोले में जा रहा है। उसमें टीचर को आगे काम करना है। मैंने जहाँ तक उपलब्धि हासिल की मुझे वह बताइए देखकर। तो हम प्रश्न बदल देते थे। ऐसे प्रश्नों के अंक कम करके उन अंकों को उन प्रश्नों में ट्रांसफ़र कर देते थे जिनमें ज़्यादातर बच्चे जवाब दे पाए। क्योंकि वे प्रश्न ज़्यादा बच्चों की ऐक्चुअल उपलब्धि का मूल्यांकन करने में सक्षम थे। दूसरे प्रश्न नहीं थे।

"देखिए, मूल्यांकन उसका होना होता है जो हम कर पाएँ। जो कर ही नहीं पाएँ उसका क्या मूल्यांकन। मूल्यांकन तो मेरे आगे बढ़ने और मेरी उपलब्धि बताने के लिए होना चाहिए ना। तो जो मुझे नहीं आता वह तो टीचर के झोले में जा रहा है। उसमें टीचर को आगे काम करना है"

फिर दोबारा से मूल्यांकन निर्देश लिखे जाते थे। हम मॉडल आंसर पहले लिख देते थे। फिर बच्चों के आंसर देख कर मॉडल आंसर रिवाइज़ करते थे कि बच्चों ने यह ऐसे समझा। तो पहले से ही एक मैकेनिकल तरीक़े से मॉडल आंसर न बनाते हुए हम मूल्यांकन निर्देश भी फिर से बनाते थे और रिवाइज़ मूल्यांकन निर्देश और रिवाइज़ अंक निर्धारण जारी करते थे। जो सैंपल पेपर थे वह वापस रख दिए जाते थे और मूल्यांकन निर्देश और रिवाइज़ अंक निर्धारण सारे परीक्षा केन्द्रों पर फिर से जारी होता था कि अब इसके अनुसार आकलन किया जाए।

कहने का मतलब कि इसका तरीक़ा निकाला जा सकता है; और यह होशंगाबाद ज़िले और कई ज़िलों के शिक्षकों ने 25-30 साल तक करके दिखाया कि वह इस चीज़ को सीख सकते हैं। शिक्षक अपने व्यावसायिक समूहों में बैठकर, विचार करके और बच्चे के नज़रिए को शामिल करके ऐसी व्यवस्था को बना सकते हैं।

अब प्रश्न है कि क्या ऐसी प्रक्रियाएँ आजकल सम्भव हैं या नहीं? इसके लिए कोशिश होती है या नहीं होती? वह मैं आपसे जानना चाहूँगी।

राजेन्द्र : परीक्षा सुधारों को लेकर मेरा सोचना थोड़ा अलग है। मेरा सोचना है कि एक ही बात बार-बार कही जाती है तो वह मान्यता जैसी बन जाती है। जैसे परीक्षा को लेकर कहा जाता है कि परीक्षा से डर पैदा होता है, तनाव पैदा होता है। मुझे लगता है कि यह परीक्षा लेने के तरीक़ों पर भी निर्भर करता है। परीक्षा बेसिकली कक्षा की तैयारी तो है ही, पर वह जीवन की तैयारी भी है। जीवन में भी आपको हमेशा परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। कहीं-न-कहीं बच्चा प्रॉब्लम सॉल्वर तो बनता ही है। परीक्षा से गुज़र कर प्रॉब्लम सॉल्विंग एप्रोच कहीं-न-कहीं उसके अन्दर पैदा हुई, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

हमारे यहाँ जब सीसीई लागू हुआ तो हमने उसके अन्दर कुछ शालाएँ चुनीं। सीसीई में शालाएँ लेते हुए हमने परीक्षा की तैयारी के तरीक़े बदले। हमारा एक माध्यमिक शाला एनकेजे स्कूल था। वहाँ पर जब भी टीचर चैप्टर पढ़ाते थे तो सारी तैयारी बच्चों से कराते थे। तुम प्रश्न बनाओ, तुम उत्तर लिखो। बस उनकी ग्रुपिंग हम कर देते थे। समूह में बैठाकर उनसे

प्रश्नोत्तर बनवाने का काम करते थे। साल भर तक उन्होंने ऐसा किया और जब उन्होंने परीक्षा दी तो कहीं पर उनको इसका डर नहीं था। क्योंकि वह प्रश्न बनाने और उत्तर देने, दोनों प्रक्रियाओं में शामिल थे। उन्होंने परीक्षा आराम से दी। वहाँ हमने एक यह भी किया कि जब वह परीक्षा देने आए, तो जनरली क्या होता है कि उनके बैठने की व्यवस्था रोल नम्बर से होती है। तो हमने क्या किया कि सबको कहा कि जहाँ जिसको बैठना हो बैठ जाओ, यहाँ पर कोई रोल नम्बर नहीं है। 40 बच्चे थे, सब अपने हिसाब से बैठ गए और हमने यह भी कहा कि जैसे हम रोज़ करते थे वैसे ही यह करना है। हर पुस्तक में पाठ के अन्त में 5-6 प्रश्न होते हैं पर बच्चों ने तो 20-20, 30-30 प्रश्न बनाए थे। कोई ऐसा प्रश्न नहीं था जिसका वे जवाब न लिख सकें। माने बच्चों ने बड़े हेल्दी रूप में एक्ज़ाम दिया।

लेकिन जब हम एक्ज़ाम में बहुत स्पेशल व्यवस्था करते हैं, तमाम औपचारिक नियम-क़ायदे बनाते हैं, फिर एक व्यक्ति खड़ा होकर इंस्ट्रक्शन देता है कि पीछे मत मुड़ना, ऐसा मत करना, वैसा मत करना। और साल भर वैसी प्रक्रियाएँ चलती हैं तो परीक्षा का स्वरूप बदल जाता है। उसका असर ही अलग हो जाता है। मुझे लगता है कि हमको परीक्षा संचालित कराने के तरीक़ों पर भी विचार करना होगा। बच्चों को परीक्षा देनी है, एक मानकीकरण से गुज़रना है। इसमें उन्नीस-बीस चलता रहेगा पर बच्चों को इतना भरोसा होना चाहिए कि मैं यह ठीक से कर पाता हूँ। अगर एक चीज़ नहीं कर पाया तो कोई बात नहीं, मैं दूसरी चीज़ तो कर पाता हूँ। यह मेरा एरिया है, मैं इसमें आगे जा सकता हूँ। यह भरोसा पैदा कर देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुझे लगता है कि परीक्षा में सुधार को हमको इस दृष्टि से देखना होगा। और टीचर्स का बच्चों के साथ जो बिहेवियर है, इसपर बहुत काम करने की ज़रूरत है। इस तरह परीक्षा कई चीज़ों से जुड़ रही है। हम एकदम से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।

रश्मि : पर एक बहुत सहज और बुनियादी निष्कर्ष यह है ही कि सारा दारोमदार शिक्षक और छात्र के सम्बन्धों पर टिका हुआ है।

दूसरी, आप रीज़निंग की बात कर रहे थे कि शिक्षक बड़ा कन्फ़्यूज़ है कि एक तरफ़ तो क्लास का पाठ्यक्रम चल रहा है जिसमें रीज़निंग उतनी नहीं है और दूसरी तरफ़ प्रतियोगी परीक्षाएँ हैं। हम इसपर आएँगे।

राजेन्द्र : इसमें एक चीज़ जोडूँगा, ऐक्चुअली यह दोनों चीज़ें अलग नहीं हैं। जो हमारा पाठ्यक्रम है उसमें भी रीज़निंग है। पर शिक्षक जब पेपर बना रहे थे तो उस तरह से रीज़निंग को नहीं दे रहे थे। जब हमने सीखा कि आगे बढ़ने के लिए यह ज़रूरी है तो हमने अपने गणित के पैटर्न को उसी तरह से बदला। मासिक टेस्ट हुए। बाहर से लोग आए, उसमें यह बताया कि पेपर कैसे बनाएँ। उसमें इस तरह के प्रश्न रखेंगे ताकि बच्चे को एकदम से यह नहीं लगे कि किस तरह के प्रश्न आ गए। रीज़निंग उसी के अन्दर है। अब शिक्षकों ने अपने पाठ्यक्रम को देखना स्वीकार किया, ताकि वे प्रतियोगी परीक्षा के साथ-साथ स्कूल के पाठ्यक्रम को भी पूरा कर सकें।

"कहा जाता है कि परीक्षा से डर पैदा होता है, तनाव पैदा होता है। तो मुझे लगता है कि यह परीक्षा लेने के तरीक़ों पर भी निर्भर करता है। परीक्षा बेसिकली कक्षा की तैयारी तो है ही, पर वह जीवन की तैयारी भी है। जीवन में भी आपको हमेशा परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। कहीं-न-कहीं बच्चा प्रॉब्लम सॉल्वर तो बनता ही है।"

अनिल : राजेन्द्रजी, आप इसका कोई उदाहरण दे सकते हैं।

राजेन्द्र : बिल्कुल। पहले हम बच्चों को ग्राफ़ बनाना सिखा रहे थे। फिर हमने उनको एक ग्राफ़ दिया और उसका निष्कर्ष उनसे पूछा कि

कौन सबसे लम्बा, कहाँ सबसे ज़्यादा बारिश होती है। फिर सीक्वेंस पढ़ना बताया कि 2 के आगे 6 लिखा है तो अगला अंक क्या होगा। तो इस तरह के प्रश्न पहले टीचर नहीं दे रहे थे। वह दे रहे थे 1 पेंसिल की कीमत 5 रुपए है तो 5 की कितनी होगी? या हमने चार स्ट्रक्चर बना कर दिए जिनमें एक लकड़ी का था बाक़ी तीन लोहे के, और पूछा कि इसमें अलग क्या है? इस तरह के सवाल भी अब हमने उसमें शामिल किए।

पाठ्यपुस्तक और परीक्षा में बदलाव के लिए शिक्षकों की तैयारी

रश्मि : पिछले 10-20 सालों में पाठ्यपुस्तक में परिवर्तन आया है। जैसा कि आप कह रहे हैं कहीं कम तो कहीं ज़्यादा मात्रा में रीज़निंग, बच्चे की अपनी सोच, उसकी अभिव्यक्ति को भी जगह मिल रही है। लेकिन इसमें जो एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है वह है शिक्षक की तैयारी। शिक्षक की तैयारी वैसी ही परीक्षा देने की हुई है जो पाठ्यपुस्तकों को पढ़ कर दी जाती है। उसमें सीधे-सीधे जानकारी दी जाती है। जवाब



भी बने-बनाए रहते हैं। उसने जब पढ़ाई की थी तब आज जैसी नई पाठ्यपुस्तकें नहीं थीं। शिक्षक के अन्दर जो एक ध्येय बना है कि मुझे क्या काम करना है, मेरी क्या भूमिका है, वह उसके विकास से तय हो चुका है। अब उसे पूरा अनलर्न करके, अनपैक करके नए परिप्रेक्ष्य को स्वीकार करना, अपने मन में उसकी स्वीकार्यता बनाना यह बहुत बड़ा चैलेंज है।

मैं देखती हूँ, शिक्षक कहते हैं कि भाषा और गणित तो बेसिक चीज़ें हैं। विज्ञान वग़ैरह में नई चीज़ें आएँ, यह अलग बात है। भाषा और गणित तो हम रोज़ सिखाते हैं। इसको तो मैंने जैसे सीखा वैसे सिखा दूँगा। इसमें नई सोच और तर्क क्या मायने रखते हैं। तो वह पाठ्यपुस्तक के परिवर्तन में भी ध्यान नहीं देते। ट्रेनिंग में चले जाते हैं और बहुत ध्यान दिए बग़ैर आ जाते हैं। उनका यही सोचना है कि यह तो हमें आता है, जोड़, घटाव, गुणा, भाग यह तो हम सिखा सकते हैं। उसमें परिवर्तन के लिए वे अपने मन को खोल ही नहीं पा रहे हैं।

इस चुनौती को टैकल करना है। इसके बग़ैर बात बनेगी नहीं।

राजेन्द्र : बिल्कुल सही कह रही हैं। यही हुआ। जैसे ही एनसीईआरटी की किताबें आईं तो शिक्षकों में एकदम से प्रतिक्रिया हुई। अरे यह क्या है? पहले की किताबें बेहतर थीं, उनमें पढ़ाई-लिखाई ज़्यादा थी। तो डिस्ट्रिक्ट लेवल पर जब ट्रेनिंग वग़ैरह हुईं तब उस समय कुछ प्रश्नों को लेकर बताने की कोशिश हुई कि हमारा टेस्ट इस तरह होना है और इस तरह से आप लोगों को चीज़ों को देखना है। लेकिन वास्तविकता यह भी है कि टीचर बहुत अच्छे से पढ़ भी नहीं रहे। रीडिंग हैबिट इनकी बहुत अच्छी नहीं है।

रश्मि : यह जो पाराशरजी कह रहे थे न, वहाँ स्कूल लीडरशिप बिल्कुल सेंट्रल रोल अदा कर रही है। अब इनके पास तो स्कूल है जिसकी यह लीडरशिप कर रहे हैं, पर अधिकांश स्कूल में तो कोई है ही नहीं जो लीडरशिप करे।

एक टीचर आता है, एक छुट्टी पर रहता है। अगले दिन यह छुट्टी पर है, दूसरा आता है। कौन किसकी लीडरशिप करे? कहाँ बैठें, कहाँ सोचें, कहाँ बात करें? कोई माहौल नहीं है। वह व्यवस्थाएँ बनाने की ज़रूरत है। या तो संकुल का कोई प्राचार्य या कोई और हफ़्ते में किसी एक दिन, जो टीचर आपस में जुड़े हैं उनके साथ बैठकर बातचीत करे, जैसी आप अपने स्कूल में करते हैं।

राजेन्द्र : वह चल रहा है मैडम। शैक्षिक संवाद का उद्देश्य यही था।

रश्मि : पर वह तो बड़े लेवल पर होता है, क्लस्टर लेवल पर। और उसमें भी अभी ट्रेनिंग देने वाला पुट ही बना हुआ है कि अब हम आपको एक और गतिविधि सिखाते हैं, एक और टीएलएम बनाना बताते हैं। उसमें टीचर का अपना रिफ़्लैक्शन बता पाना होता ही नहीं है। यह तो छोटे स्तर पर, छोटे समूह में ही सम्भव है जिसमें टीचर अपने हफ़्तेभर का काम बता पाए। जैसे अपन सब टीचर बैठे हैं, तो उसमें यह बात हो कि मैंने यह पढ़ाया, ऐसे पढ़ाया, वह चार बच्चे ऐसे थे, उनको तो हासिल ही नहीं आ रहा था, इसके घर में यह समस्या थी, वह तो रोने लगा। या उसने यह पूछा कि यह दो अंकों वाले गुणा में कट-पिट का निशान क्यों लगाते हैं? जो भी अपनी चिन्ताएँ हैं वह साथ बैठकर बताएँ। उसमें एक-दूसरे की जो भी समस्याएँ हैं, उलझनें हैं वह सुलझाएँ। वहीं से ताकत मिलेगी।

सुधाकर पाराशर : आज 21वीं सदी है, ज़माना बदल रहा है। अभी हाल ही में डिपार्टमेन्ट ने मुझे कोरिया भेजा था। मैं वहाँ होकर आया। वहाँ '5सी' की बात कर रहे हैं। वह बात कर रहे हैं कि बेसिकली शिक्षा के अन्दर क्या-क्या आ जाए। उसके अन्दर कम्प्यूटर स्किल आ जाए, कम्युनिकेशन स्किल आ जाए, कोऑपरेटिव वर्किंग की कैपेसिटी आ जाए, क्रिटिकल थिंकिंग आ जाए और कैरैक्टर आ जाए। अब बोलना, सुनना, पढ़ना, लिखना पीछे रह गया। बच्चे के अन्दर इस तरह के प्रैक्टिकल नॉलेज और स्किल आ जाने की बात हो रही है। कम्प्यूटर ज़रूरी रूप से आए, अपनी बात कम्युनिकेट कर सके, साथ मिल कर काम करने की स्किल आ जाए, नई दृष्टि से सोचना, सवाल करना आ जाए, वैल्यूज़ और कैरैक्टर जैसे स्किल की बातें हो रही हैं।

पर हमारी परीक्षा पद्धति में हम अभी भी वही करना चाहे रहे हैं कि हमने पढ़ा दिया और बच्चे ने याद कर लिया, लिख लिया। जबकि दुनिया हमसे क्या अपेक्षा कर रही है? आज इंडस्ट्री की क्या अपेक्षा है? उसके अन्दर यह स्किल आने अब ज़रूरी हैं। आप जो बात कर रही हैं उससे मैं सौ प्रतिशत सहमत हूँ। शिक्षक सोचता है कि मैं उस ज़माने का पढ़ा हूँ, शिक्षित हूँ, जिसकी नौकरी 30 वर्ष की हो गई है, तो क्या वह ख़ुद को बदलने को तैयार है। अब समय बदल गया है भाई। अब सिर्फ़ याद करके लिख लेना समझ नहीं है। अब उस ज्ञान का एप्लीकेशन या उस ज्ञान का उपयोग दूसरी परिस्थितियों में कर पा रहे हैं तब माना जाएगा कि आप पढ़े-लिखे हैं, शिक्षित हैं, समझदार हैं।

"अभी हाल ही में डिपार्टमेन्ट ने मुझे कोरिया भेजा था। वहाँ '5सी' की बात कर रहे हैं। वह बात कर रहे हैं कि बेसिकली शिक्षा के अन्दर क्या-क्या आ जाए। उसके अन्दर कम्प्यूटर स्किल आ जाए, कम्युनिकेशन स्किल आ जाए, कोऑपरेटिव वर्किंग की कैपेसिटी आ जाए, क्रिटिकल थिंकिंग आ जाए और कैरैक्टर आ जाए।"

तो फिर मुद्दा वही है कि यदि ज़माना बदल रहा है तो हमें अपनी पद्धतियाँ और मानसिकता बदलनी होंगी।

रश्मि : और शायद इसमें एक पीढ़ी लगती है। उसी पीढ़ी में यह सब परिवर्तन देख पाना मुश्किल होता है।

बच्चे के बारे में समाज का नज़रिया

सुधाकर पाराशर : बिल्कुल ठीक। मैं काफ़ी देर से एक बात सोच रहा था दीपेन्द्र सर ने जो बोला था कि 'कमज़ोर बच्चे' शब्द का काफ़ी इस्तेमाल होने लगा है। मेरा तो मानना है कि यह मेंटल हैरसमेंट है और इस शब्द के प्रयोग पर सज़ा का प्रावधान होना चाहिए। यह शब्द बोलना ही अपने-आप में क्रिमिनल ऑफ़ेंस है।

रश्मि : आप इसपर बोल रहे हैं... (कई) शिक्षक तो तमाचे लगाने का अधिकार चाहते हैं। राइट टु एजुकेशन ने उनसे यह अधिकार छीन लिया। वह राइट टु एजुकेशन क़ानून को इसके लिए ज़िम्मेदार मानते हैं। वह तो इसे बदलना चाहते हैं।

"हो सकता है किसी बच्चे की स्पोर्ट्स में रुचि हो, ड्रॉइंग, पेंटिंग या अन्य किसी विषय में हो। हम उपलब्ध करा ही नहीं पा रहे हैं। हमारे पास हिन्दी, अंग्रेज़ी, गणित, विज्ञान चार विषय हैं वही थोप रहे हैं और फिर आकलन कर रहे हैं कि तुम कमज़ोर हो, बेकार हो।"

सुधाकर पाराशर : मैं फिर कहना चाहूँगा मैडम कि किसी बच्चे को कमज़ोर कह देना अपराध है। आप नहीं जानते ऐसा कह कर आपने उसमें क्या ज़हर भर दिया, उसे किस अवसाद में डाल दिया। हो सकता है कि किसी शिक्षक ने उसे ठीक से पढ़ाया ही नहीं हो और बच्चा उस विषय में रह गया तो हम कहने लगे कि यह बच्चा कमज़ोर है।

रश्मि : पर यह बात आ कहाँ से रही है हमें यह भी देखना होगा। यह बात आ रही है क्योंकि इस तरह की हाई स्टेक टेस्टिंग वाली चीज़ों को सरकार तवज्जो दे रही है। वह प्रसारित कर रही है यह तनाव। मुझे तो लगता है बच्चों की टेस्टिंग को ही अपराध घोषित करना चाहिए। बच्चों की टेस्टिंग क्यों कर रहे हो? प्रशासन अपनी टेस्टिंग करे। शिक्षक की टेस्टिंग करो। जो भी, जैसी भी टेस्टिंग करो वह बच्चों के लिए नहीं अपने लिए करो।

सुधाकर पाराशर : कोई बात नहीं टेस्टिंग करो, सही है, पर यह बच्चे की टेस्टिंग नहीं है भाई, हमारी टेस्टिंग है। यह टेस्टिंग हमारे लिए है। सोचिए हम बीमार हैं, डॉक्टर ने हमारा ब्लड टेस्ट कराया तो टेस्ट करा तो वह हमारा रहा है लेकिन उसके बाद में अपना दिमाग़ लगा रहा है कि इसको क्या दवाई देनी है, क्या-क्या ध्यान रखना है। ऐसा तो नहीं कहता डॉक्टर कि पाराशरजी आपका यह ब्लड ख़राब है, आप मरने वाले हो, भाग जाओ यहाँ से। अपना ब्लड ठीक करके आओ।

हम यही कर रहे हैं। हम यह नहीं कर रहे हैं कि उसका हीमोग्लोबिन कम है तो भई हम बताएँ न कि उसे क्या-क्या देना है, कैसे देना है, कैसे और कब ठीक होगा। हम डॉक्टर का रोल नहीं अदा कर रहे हैं। हम उसपर आरोप लगा रहे हैं कि तुम्हारा हीमोग्लोबिन कम है, चलो भागो यहाँ से। अब तुम किसी लायक़ नहीं। कुछ दिन के मेहमान हो। सोचो, डॉक्टर ऐसी भाषा बोलने लगेंगे तो क्या होगा। तो एक तरह से हम वही कर रहे हैं।

यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह कि मुझे लगता है, हम सभी बच्चों से एक जैसी अपेक्षा क्यों कर रहे हैं। हम ऐसा क्यों मानकर चल रहे हैं कि हर बच्चे को गणित आना ही चाहिए। शासन को यह चाहिए कि वह हमारे विद्यालय में सारे क्षेत्र जिनमें कि बच्चों की स्वाभाविक वृत्तियाँ होती हैं वह सब उपलब्ध कराए। हो सकता है किसी बच्चे की स्पोर्ट्स में रुचि हो, ड्रॉइंग, पेंटिंग या अन्य किसी विषय में हो। हम उपलब्ध करा ही नहीं पा रहे हैं। हमारे पास हिन्दी, अंग्रेज़ी, गणित, विज्ञान चार विषय

हैं वही थोप रहे हैं और फिर आकलन कर रहे हैं कि तुम कमज़ोर हो, बेकार हो। आज तमाम बच्चे-बच्चियाँ विभिन्न क्षेत्रों में कितना अच्छा कर रहे हैं, अगर उन्हें भी ऐसे ही कमज़ोर बच्चा कहके छोड़ दिया जाता तो क्या वे यह सब कर पाते। खेल में, म्यूज़िक में, अन्य क्षेत्रों में नाम कमा रहे बच्चों से पूछो तो इनमें से ज़्यादातर 10वीं या 12वीं फ़ेल हैं। क्या वे कमज़ोर थे? नहीं, उनका क्षेत्र अलग था। हमारे पास वह सुविधाएँ नहीं हैं उन्हें आँकने की। उनकी पहचान नहीं कर पा रहे हम और ठप्पा लगाए दे रहे हैं कि तुम कमज़ोर हो। वह अपने किसी रुचि के क्षेत्र में शानदार हो सकता है।

इसकी भी स्वीकार्यता शिक्षक में आए, पालक में आए, समाज में आए कि यदि कोई बच्चा गणित में कमज़ोर है, गणित में थोड़ा कम समझ में आ रहा है तो वह कमज़ोर नहीं हो गया।

रश्मि : सिर्फ़ इतना ही नहीं बल्कि यह भी बताना ज़रूरी है कि गणित में कमज़ोर होने का अर्थ क्या है।

पाराशर : ऐसा कहा जाना चाहिए कि गणित समझने में कठिनाई हो रही है।

रश्मि : नहीं, वह भी बात नहीं है। यह कहना पड़ेगा कि वह इस तरह का गणित कर लेता है पर स्थानीय मान पद्धति के कॉलम एडिशन में उसको दिक़्क़त है। बाक़ी सब बहुत अच्छे से कर पाता है, सिर्फ़ यहीं अटकाव है। वह गणित कर सकते हैं, करते भी हैं। यूँ कहो कि यह पद्धति की दिक़्क़त है, उसकी कमज़ोरी है कि वह इतने लोगों को गणित में कमज़ोर करती है।

पाराशर : बिल्कुल सही कहा आपने। पद्धति की बजाय हम बच्चों पर कमज़ोर होने का ठप्पा लगा रहे हैं। इसे रोकना चाहिए। उन क्षेत्रों की भी पहचान करनी चाहिए। स्कूल हमें बहुत ओपन माइंडेड रखना पड़ेगा। बहुत ऑप्शन रखने पड़ेंगे कि हर एक बच्चे में जो कुछ प्रतिभा है, जो कुछ छिपा हुआ है, उसे उभरने का मौक़ा मिले। प्रकृति ने सभी में कुछ-न-कुछ डाला हुआ है।

रश्मि : आप यह भी नहीं कहें कि इसको पढ़ना-लिखना नहीं आता। नहीं आता तो नहीं आता। टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल भी किया जा सकता है। जैसे मुझे देखने में कमी है, मैं चश्मा लगा लूँगी। मुझे सुनने में कमी है, मैं यंत्र लगा लूँगी। मैं बोल रही हूँ, सुन रही हूँ, दुनिया को देखकर अपना ज्ञान बना रही हूँ। मैं किसी कारण से बस लिख नहीं पा रही। तो कोई बात नहीं, मैं बोलूँगी और यह वॉइस रिकॉर्डिंग से टाइप हो जाएगा। गूगल टाइप कर देगा। आजकल तो यह आसानी से हो रहा है। अब पढ़ने-लिखने की चिन्ता दूर। सारे टीचर्स के स्मार्टफ़ोन में यह एप डाउनलोड कराओ। उस बच्चे को उत्तर देने को बोलो, और टाइप हो जाएगा, आप देख लो।

“ आप यह भी नहीं कहें कि बच्चे को पढ़ना–लिखना नहीं आता। नहीं आता तो नहीं आता। टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल भी किया जा सकता है। जैसे मुझे देखने में कमी है, मैं चश्मा लगा लूँगी। मुझे सुनने में कमी है, मैं यंत्र लगा लूँगी। मैं बोल रही हूँ, सुन रही हूँ, दुनिया को देखकर अपना ज्ञान बना रही हूँ।”

पाराशर : मैं शासन की तरफ़ से एक पक्ष रखना चाहता हूँ। शायद मध्यप्रदेश में पहली बार हुआ जहाँ शासन ने इस तरह से सोचना शुरू किया। अभी यह हुआ कि शासन ने निर्णय लिया कि जिन स्कूलों में बीस प्रतिशत से कम परीक्षा परिणाम आया था, वहाँ बच्चों को दोष नहीं देते हुए, वहाँ के शिक्षकों की परीक्षा कराई। उनका रिज़ल्ट डिक्लेयर किया। जो फ़ेल हुए उन्हें दुबारा मौक़ा देते हुए किताब खोलकर परीक्षा दिलवाई। दुर्भाग्य की बात है कि उसमें भी हमारे कई शिक्षक साथी फ़ेल हुए। निस्सन्देह जब एक शिक्षक, एक प्रश्नपत्र सॉल्व नहीं कर सकता, या फिर यूँ कहें कि उनकी तैयारी नहीं थी, तो हम बच्चे से कैसे अपेक्षा कर सकते थे।

यह सही दिशा है प्रशासन की, जहाँ वह यह सोच रहा है कि बच्चों का पास न होना सिर्फ़ बच्चों का कमज़ोर होना नहीं, बल्कि कई बार अच्छे शिक्षकों का न होना भी है। इस दिशा में पुनर्विचार करना शुरू करना चाहिए।

दूसरी बात यह कि उन शिक्षकों की मानसिकता में बदलाव, पद्धतियों में बदलाव और उसके लिए उनको उचित अवसर और ट्रेनिंग देना यह दोनों एक साथ करनी पड़ेगा। तब जाकर कहीं बात बनेगी, हम नए मूल्यांकन की ओर बढ़ पाएँगे। सुधार की ओर बढ़ पाएँगे।

सरकारी तंत्र के शिक्षक की स्थिति और सोच

''यह जो परीक्षा का पूरा मसला है इसमें विषय–आधरित शिक्षा है, विषय–आधारित परीक्षा है। हार्डकोर विषयों की बात होती है, बाक़ी चीज़ें छूट जाती हैं। उसपर कोई बात नहीं करता। जैसे जीवन के लिए जो ज़रूरी तत्त्व हैं, जैसे कला का तत्त्व, सौन्दर्य अनुभूति का तत्त्व, यह न तो शिक्षा के माध्यम से आ रहे हैं न ही परीक्षा के माध्यम से। ''

रश्मि : अब हम जब सुधारों की बात कर रहे हैं, तो हम किस तरह के सुझाव देना चाहते हैं? हमारे मन में क्या है?

मुकेश : बड़ी दिक़्क़त तो यह है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षा हो ही नहीं रही है। मध्यप्रदेश में शिक्षक और स्टूडेंट्स का रेशो एक अलग तरह का है। हमारे तीस–चालीस प्रतिशत स्कूलों में बच्चों की संख्या तीस से कम हो गई है, वहाँ दो–तीन शिक्षक ही हैं। उसके बाद भी स्थितियाँ यह हैं कि शिक्षा का स्तर गिरा हुआ है। तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि शिक्षक को भी ठीक ढंग से समझने की ज़रूरत है, ख़ासकर सरकारी सिस्टम में। मैं बार–बार और कई जगह पर यह कहता रहा हूँ कि कोई भी ग़ैर–सरकारी तंत्र में उपजा हुआ अनुभव सरकारी तंत्र पर फ़िट नहीं बैठता। वह एक बिल्कुल अलग तरह का समाज है, जिसे बिल्कुल एक अलग नज़रिए से देखने की ज़रूरत है। तो जब भी आप परीक्षा की बात करें तो जो व्यक्तिगत, सीमित क्षेत्रों में कामयाबी के अनुभव रहे हैं उसके आधार पर एक व्यापक व्यवस्था में निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। वे व्यक्ति अलग थे, उनकी अलग तरह की समझ थी।

रश्मि : किसकी बात कर रहे हैं?

मुकेश : मतलब अगर एकलव्य का भी उदाहरण लें, या प्राइवेट स्कूल का उदाहरण लें। प्राइवेट वर्सेज़ सरकारी स्कूल का भी ले लें तो सरकारी सिस्टम में एक अलग तरह से समाज बना हुआ है। उसको उसी तरह से देखने की ज़रूरत है। एक तो दायित्व बोध का अभाव है, दूसरा यह कि यह जो परीक्षा का पूरा मसला है इसमें विषय–आधरित शिक्षा है, विषय–आधारित परीक्षा है। हार्डकोर विषयों की बात होती है, बाक़ी चीज़ें छूट जाती हैं। उसपर कोई बात नहीं करता। जैसे जीवन के लिए जो ज़रूरी तत्त्व हैं, जैसे कला का तत्त्व, सौन्दर्य अनुभूति का तत्त्व, यह न तो शिक्षा के माध्यम से आ रहे हैं न ही परीक्षा के माध्यम से।

रश्मि : अभी की बात कर रहे हैं तो सीसीई तो चल रहा है, और प्रतिभा पर्व भी चल रहा है, उसमें यह सारी बातें किस तरह से छूट जाती हैं?

मुकेश : मुझे लगता है कि उसे देखने की ज़रूरत है। यह जो सीसीई का पूरा विचार आया यह विचार भी पूरी तरह से शिक्षा तंत्र में डेवलप नहीं हुआ। यह भी एक तरह से बाहरी चीज़ थी, जो सरकारी स्कूलों पर थोपी गई। जब बाहरी चीज़ सरकारी तंत्र पर थोपी जाती है तो किस तरह से वह विकृत स्वरूप ले लेती है। सीसीई जो मध्यप्रदेश के स्कूलों में लागू हुआ, उसमें बच्चों की ईमानदारी के आपको

अंक देने थे। अब ईमानदारी का आकलन आप कैसे करेंगे? सत्यवादिता पर अंक देने थे, और उसकी स्वच्छता पर अंक देने थे। अब स्वच्छता के मायने ही सबके लिए अलग-अलग हैं या इसे समझने के लिए भी एक तरह की परवरिश की ज़रूरत है कि किसे आप स्वच्छता कहेंगे, किसे नहीं कहेंगे। बहुत तरह की चीज़ें थीं जिन्हें शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने की ज़रूरत रही, उनके क्रियान्वयन की कोई तैयारी या समझ ही नहीं रही ज़मीनी स्तर पर।

रश्मि : बहुत सारी बातें थीं उसमें, जैसे– कला, खेल, नेतृत्व क्षमता, सहभागिता...

मुकेश : हाँ, पर वह सब परीक्षा की तरह आ रही थीं न, तो फिर परीक्षा का कोई टूल ही उसको देख सकता था, आकलन कर सकता था। अब कला को परीक्षा के किस टूल से आप ऑब्ज़र्व करेंगे। और अभी आपने ही यह कहा कि नई चीज़ को समझने में लम्बा समय चाहिए, इस तरह के बदलावों में एक पूरी पीढ़ी लगती है। लेकिन सरकारी तंत्र में तो तुरन्त एक्शन की बात होती है। आपने आज ऑर्डर दिया और कल बदलाव हो जाना चाहिए।

रश्मि : यदि हम इसमें थोड़ा प्रायवेट स्कूल को शामिल करके बात कर सकें कि सीसीई प्रायवेट स्कूल में किस तरह लागू हुआ या वहाँ परीक्षा में जो भी सुधार है तो क्या वहाँ पर कुछ बेहतर अंजाम पर पहुँच पा रहे हैं या बेहतर समझ वहाँ के शिक्षकों की है? वहाँ तो दायित्व बोध का अपना एक स्तर बनाकर रखा जाता है 'हायर एंड फायर' पॉलिसी से। क्या वहाँ दायित्व बोध की स्थिति बेहतर होती है? और क्या उससे बच्चों की शिक्षा में कोई अन्तर हम देख पाते हैं समझ के स्तर पर?

गुरबचन : आप यह जो कह रहे हैं कि यह सीसीई जैसी चीज़ बाहरी अवयव के तौर पर आई, तो यह शायद वैसा नहीं है क्योंकि यह तो हमारे तंत्र के भीतर भी जो लगातार सुधार और परिमार्जन की प्रक्रियाएँ चलती रही हैं, उसके परिणामस्वरूप एक समझ से निकली है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, 2005 ने इसे एक विचार के तौर पर दिया और उस विचार के आधार पर हमने अपने 'राइट टु एजुकेशन' में एक प्रोवीज़न के तौर पर चैप्टर फ़ाइव में इसे इंट्रोड्यूज़ किया। इस तरह यह हमारे तंत्र के अपने अनुभव से निकला हुआ मसला है न कि बाहरी।

रश्मि : बाहरी वह शायद इस मायने में रहता है कि वह स्कूल लीडरशिप के विज़न से निकल कर नहीं आया है। अगर मैं इसको ऐसे रखूँ कि स्कूल एक सामाजिक समूह है और उसे नेतृत्व देने वाले की कर्मठता, उसकी निष्ठा, विज़न या उसकी दूरदर्शिता पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि वह क्या करना चाहता है। जो स्कूल लीडरशिप की बात पहले भी मैंने कही थी। अगर मुझसे कोई कुछ करवा रहा है भले ही कितनी भी अच्छी सोच से करवा रहा है, पर अगर कोई बाहर से मुझसे करने के लिए बता रहा है, तब थोड़ी मुश्किल रहती ही है। हाँ, अगर उसपर मैंने विमर्श किया, बहस की, उसे समझा, बदला और फिर मैंने अपने हिसाब से स्कूल को वैसे चलाया, वहाँ तो ठीक है। यानी इतनी कश्मकश, इतनी जद्दोजहद अगर स्कूल लीडरशिप ने की है तो वह काम उसका अपना बनेगा। तब एनसीएफ़ हो, आरटीई हो, सीसीई हो, कुछ भी हो, उसकी अपनी सोच का अंग बनेगा। अगर कोई काम उसकी ऑटोनॉमी का

"यह जो सीसीई का पूरा विचार आया है। यह विचार भी पूरी तरह से शिक्षा तंत्र में डेवलप नहीं हुआ। यह भी एक तरह से बाहरी चीज़ थी, जो सरकारी स्कूलों पर थोपी गई। जब बाहरी चीज़ सरकारी तंत्र पर थोपी जाती है तो वह विकृत स्वरूप ले लेती है।"

हिस्सा बना, उसकी एजेंसी का हिस्सा बना फिर वह उसे संचालित करे तो वहाँ परिणाम अलग होते हैं। पर जहाँ बहस नहीं की, तोड़-मरोड़ कर उसे अपने में नहीं शामिल किया, जहाँ वह सिर्फ़ एक आदेश के रूप मे प्रसारित होकर आ गया, चाहे कितनी भी अच्छी बात हो उसमें बहुत बड़ा गैप रह जाता है क्योंकि यहाँ पर आप व्यक्तियों के साथ डील कर रहे हैं, यह नहीं कि आपको दवाई बाँटनी है। दवाई आप ऐसे बाँट सकते हैं कि ऊपर से गोलियाँ आ गईं आयरन या विटामिन की या जो भी बाँटना है, ड्रेस हो, साइकिल हो, वह आपने बाँट दी। पर ज्ञान और सम्बन्ध तो वैसे नहीं बाँटे जा सकते ना। और शिक्षा अन्ततः बच्चे और बड़े के सम्बन्ध

" शिक्षक जिन विद्यार्थियों से सामना कर रहा है उनकी वर्गीय पृष्ठभूमि अलग है, जातिगत पृष्ठभूमि अलग है। उनके प्रति न ही वह संवेदनशीलता महसूस कर रहा है और न ही सम्बन्ध महसूस कर रहा है। तो चूँकि एक तरह की सम्बन्धहीनता है, उस नाते उसमें दायित्व की ऊर्जा ही नहीं पनप रही। "

के इर्दगिर्द चलने वाली चीज़ है। ज़्यादा अनुभवी और कम अनुभवी, ज़्यादा जानकार और कम जानकार के बीच के एक सम्बन्ध पर चलने वाली चीज़ है। इसे आप कैसे बाँट सकते हैं। इसको तो जो सम्बन्ध बना रहा है उसी का होना पड़ेगा, उसके बग़ैर यह हो ही नहीं सकता। शायद इस मायने में ही आप इसे (सीसीई को) बाहरी कहना चाहेंगे।

दीपेन्द्र : मुकेशजी, जैसा आप कह रहे थे कि शिक्षकों में दायित्व बोध नहीं है, तो इसको मैं समझना चाह रहा था कि क्यों नहीं है? मैं इसके कारणों में जाना चाह रहा था। मेरे पास कुछ अनुमान हैं। अनुमान यह हैं कि शिक्षक जिन विद्यार्थियों से सामना कर रहा है उनकी वर्गीय पृष्ठभूमि अलग है, जातिगत पृष्ठभूमि अलग है। उनके प्रति न ही वह संवेदनशीलता महसूस कर रहा है और न ही सम्बन्ध महसूस कर रहा है। तो चूँकि एक तरह की सम्बन्धहीनता है, उस नाते उसमें दायित्व की ऊर्जा ही नहीं पनप रही। मैं इसे ऐसे देखना चाहूँगा। यह नहीं कि वह दायित्व नहीं उठाना चाह रहा या आलस्य में रहना चाह रहा है, बल्कि मुझे ऐसा लग रहा है कि जिस पृष्ठभूमि से बच्चे आ रहे हैं उनसे जुड़ाव ही महसूस नहीं कर पा रहा। और मुझे यह स्वाभाविक लगता है कि वह जुड़ाव नहीं महसूस करता। क्योंकि हमारा समाज इसी पर आधारित है।

मुकेश : तो एक यह बहुत बड़ा तत्त्व है कि जो वर्ग पढ़ने आ रहा है वह अलग है और पढ़ाने वाला वर्ग बिल्कुल अलग तरह का है। दूसरा, मैं यह कह रहा हूँ कि आप देखना कि शिक्षक को जैसे ही दूसरे काम में लगाया जाता है, सब ठीक चलता है। शिक्षक से बहुत ज़्यादा अपेक्षा भी नहीं होती है कि वह शिक्षा वाले काम को आगे बढ़ाए। सरकार उसको इसी तरह से समझती है और देखती है कि शिक्षक राज्य के प्रमोशन वाले काम करने या कल्याणकारी योजनाओं को चलाने वाला व्यक्ति है। और मैं देखता भी हूँ कि जब भी यह कल्याणकारी दायित्व शिक्षक को दिए जाते हैं तो वह बख़ूबी और शिद्दत के साथ निभाता है।

दूसरा जिस कोऑर्डिनेशन की बात आप कह रहे थे, 15-17 साल पहले तंत्र में यह व्यवस्था की गई कि 15-20 शिक्षकों के साथ समन्वयन के लिए ऐसा व्यक्ति रखेंगे, जो सलाह दे रहा होगा, मदद कर रहा होगा। इस पूरी व्यवस्था में संकुल से लेकर जिले तक के जो कोऑर्डिनेटर थे, बीआरसी, डीपीसी सहित सारे व्यक्ति, वे सभी शिक्षा के ताने-बाने से ही आए थे। पर देखने में यह आया कि सबसे ज़्यादा अफ़सरशाही इन्हीं व्यक्तियों में नज़र आती है। यह सब शिक्षा से जुड़े व्यक्ति थे, शिक्षक रहे

थे। लेकिन जैसे ही शिक्षा को देखने का, शिक्षा को मदद करने का मौक़ा आया अफ़सरशाही के तंत्र में यह लोग फँसते चले गए। इससे नाम तो बिगड़ा ही, काम भी कुछ बना नहीं।

तो जो सवाल है सम्बन्ध बनाने का उसमें यह साफ़ दिखता है कि सरकार के साथ आपको सम्बन्ध बनाने हैं, लेकिन बच्चों के साथ वैसा सम्बन्ध बनता ही नहीं। वहाँ अपनी ईमानदारी के और अच्छे काम करने के सिग्नल्स आप सरकार को देना चाहते हैं। जैसे ही एक लेक्चरर चुनाव के कार्य में लगाया जाता है तो वह सब तरह की व्यवस्था करेगा और बहुत बेहतर काम करता है। तहसील के कामों में लगाया जाता है वहाँ भी वह बहुत बेहतर काम करता है।

रश्मि : तब यह दायित्व बोध कहाँ से आ जाता है?

मुकेश : चूँकि उसकी आइडेंटिटी जो है वह एक अलग तरह की भूमिका में है।

रश्मि : इसे थोड़ा और खोलें आप। यह आइडेंटिटी की बात है या वह काम हैं ही ऐसे जो इस तरह किए जा सकते हैं। शिक्षा का काम थोड़ा भिन्न काम है। शिक्षा के विषय की प्रकृति को समझना, बच्चे की ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को समझना। उसमें जो समय लगता है उसमें जो खुलापन होता है, उसे एप्रिशिएट करने के लिए मानसिक रूप से वह तैयार ही नहीं। ऐसे में उसे समझ ही नहीं आता कि करना क्या है? उसे लगता है उसने पढ़ा दिया, बात ख़त्म, अब और क्या करना है?

मुकेश : यह जो दौर है उसमें शिक्षक को बनाने का काम उसकी नौकरी लगने के पहले



जो होता था वह बिल्कुल नहीं हो रहा है। और ज़्यादातर शिक्षा की डिग्रियाँ प्रायवेट संस्था बाँटने लगीं हैं वे इसके प्रति बिल्कुल गम्भीर नहीं हैं। मतलब यह कहें कि जो शिक्षक बनकर आया है, उस व्यक्ति का उस व्यवसाय से बिल्कुल भी सम्बन्ध नहीं रहा।

रश्मि : कोई पेशेवर परिप्रेक्ष्य ही उसका नहीं है, आप ये कह रहे हैं। पर यह भी पूरा सच नहीं है। पेशेवर परिप्रेक्ष्य के लिए बहुत कुछ हो रहा है। शिक्षक ख़ुद भी प्रयास कर रहे हैं। लेकिन जैसा कि हम पहले बात कर चुके हैं बदलावों का असर देर से ही दिखाई देगा। एक बड़ी और बहुस्तरीय व्यवस्था में अनेक तरह के काम एक साथ और अलग-अलग स्तरों पर करने की ज़रूरत है। अपेक्षित बदलाव तभी देख सकेंगे।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, प्लॉट नं. 163-164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव सोसाइटी, E-8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स, 26-बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन-1 भोपाल द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : गुरबचन सिंह